

विज्ञापनी समय चमत्कार को नमस्कार

समस्या वास्तविक, समाधान काल्पनिक — विज्ञापन का संसार इसलिए फैटेंसी का संसार है, वस्तु में देवता और इस देवता के सहारे चमत्कार गढ़ने का संसार। और यह चमत्कार आपको समस्या और उसके इतिहास से निकलने वाली जिम्मेदारियों से बहुत दूर एक कल्पना लोक में ले जाता है।

■ चंदन श्रीवास्तव

आ जादू भारत के भीतर विज्ञापनों की दुनिया को पारखी नजरों से पढ़ने वाले एक एंथ्रोपॉलजिस्ट हैं— विलियम मज्जारेला। उनकी किताब शोवेलिंग स्मोक-एडवर्टाईजिंग एंड ग्लोबलाइजेशन इन कंटेम्पररी इंडिया साल 2003 में छपी यानी भारत में वैश्वीकरण (1991-92) की शुरुआत के तकरीबन एक दशक बाद। इंद्रियों के उत्तेजन के लिहाज से यह आमूल बदलाव का वक्त था और चाहे तो कह लें कि यही समय इसलिए सर्जनात्मकता के महाविस्फोट का भी था। किताब में उन्होंने आजाद भारत के भीतर विज्ञापनों के दौर को चार अवस्थाओं में बांटा है। पहला दौर 1947-1960 तक है,

जब माज्जेरेला के अनुसार विज्ञापनों में तथ्यात्मक प्रस्तुति पर जोर होता था और रचनात्मक पहलुओं पर ध्यान ना के बराबर था। दूसरा दौर 1960-80 के बीच का है, इस दौर के विज्ञापनों में रचनात्मकता दीखने लगती है, तथ्य की जगह इस कालावधि में विज्ञापनों में कथातत्व का समावेश होता है। तीसरा दौर 1980 से शुरू होता है जब कथातत्व के बाहुल्य के साथ-साथ भारत में विज्ञापनी दुनिया मार्केटिंग चैनल का भी विस्तार करती है। मज्जेरेला की मानें तो हमलोग विज्ञापनों के बदलाव के चौथे चरण में रह रहे हैं जब मार्केटिंग की प्रविधियों और उच्चस्तरीय कल्पनाशीलता का संश्लेष घटित हो रहा है।

मज्जेरेला जिसे चौथा दौर कह रहे हैं— इंद्रियों के उत्तेजन के लिहाज से यह आमूल बदलाव का वक्त है और चाहे तो कह लें कि यही समय इसलिए

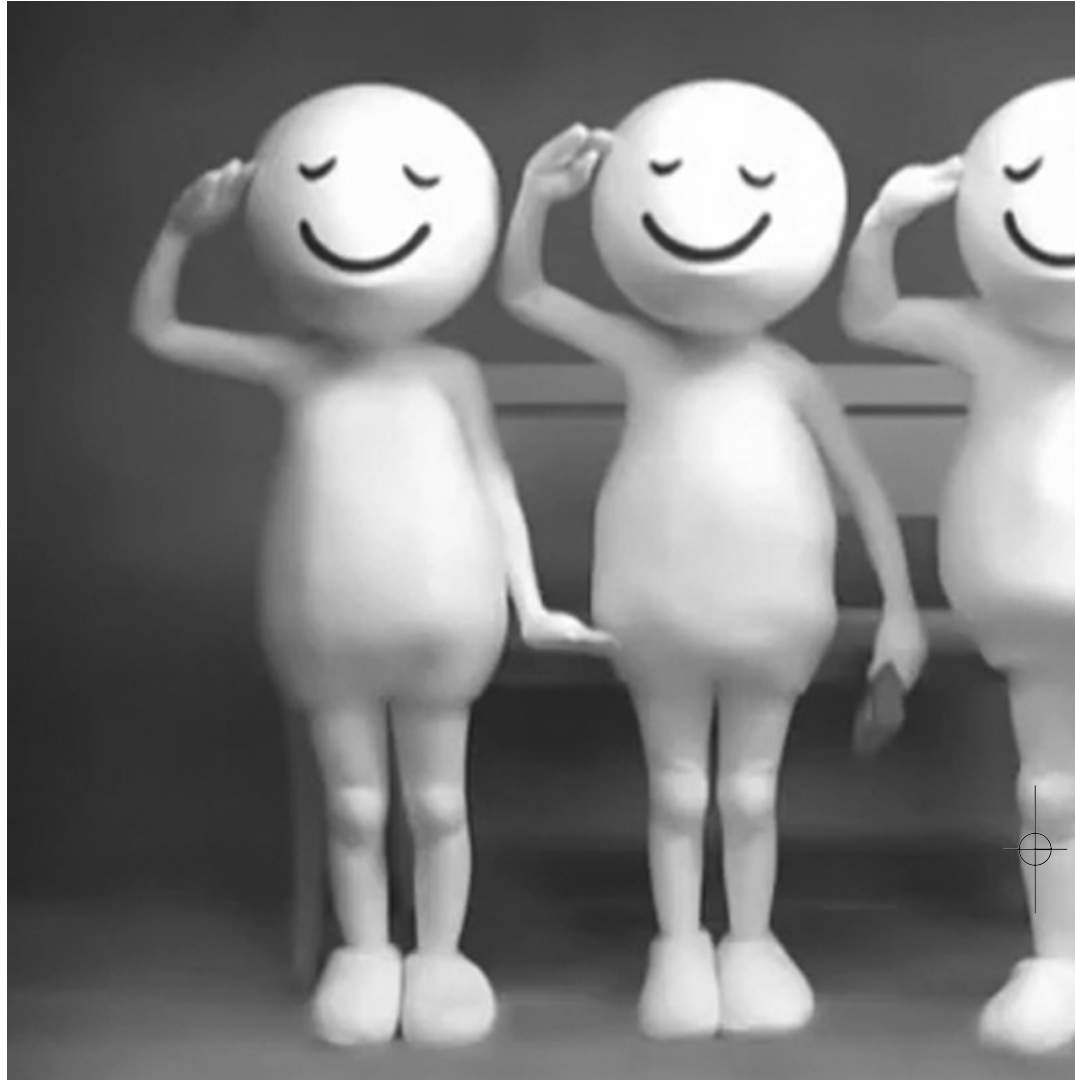
सर्जनात्मकता के महाविस्फोट का भी समय है। बोलचाल की भाषा में हम उसे उपभोक्तावाद के चरमोत्कर्ष का दौर भी कह सकते हैं। इसलिए, विज्ञापनों के संदर्भ में मज्जेरेला के काल-विभाजन को समझने के लिए हम उस समय पर गौर करें जिसका संकेत उन्होंने ग्लोबलाइजेशन शब्द से अपनी किताब के शीर्षक में किया है। इस दौर में देश में एक ही समय में देखने वाली आँख और सुनने वाले कान ज्यादा चटोरे हो उठते हैं, काम करने वाली अंगुलियों की हरकत उपकरणों की मौजूदगी में कहीं ज्यादा करतबबाज और इस करतबबाजी की अखाड़ा बनता है भौगोलिक स्पेस को अपनी व्याप्ति में ढंक लेने वाला एक आभासी डिजिटल-संसार। गौर करें कि यह होता कैसे है— उजले काले रंगों में शब्द ही नहीं तस्वीर तक को छापने वाले देश के अखबार 1991-2003 के बीच रंगीन हो चुके थे, सेटलाइट

विमर्श

चैनल की बाढ़ के बीच चैनलों की संख्या अपना शतक लगा चुकी थी, सौन्दर्यीकरण से लेकर विश्वस्तरीय सुविधाओं से लैस बनाने के मुहावरे तले देश के शहरों में मकान-दुकान, सड़क-बाजार और बस अड्डे से लेकर रेलवे स्टेशन तक अपना पूरा चोला उतारकर नए कलेवर में आत्म-लाभ करने लगे।

मध्यवर्गीय मानस मोबाइल सेट के स्क्रीन और रिंगटोन के ककहरे को पढ़कर 'मजा अनलिमिटेड' लेने की उतावली में आ गया और इंटरनेट देश के नौजवानों की एक बड़ी संख्या को नागरिक से नेटजन में तब्दील कर अपनी आभासी दुनिया के चैटरूम में बड़ी दूर बैठे अपने ही सरीखे किसी नेटजन के साथ 'डिफेरेंट रोल प्ले' (डाक्टर-नर्स, टीचर-स्टूडेंट, बॉस-सेक्रेटरी आदि) करके अपनी फैंटेसी शेरर (क्या आपको यहां डर्टी पिक्चर का ऊलाला, ऊलाला.. तू है मेरी फैंटेसी गाना और उसका हिट होना याद आ रहा है?) करने का आदि बनाने लगा। यही वह दौर था जब डीवीडी, सीडी, थ्रीडी, एलसीडी सरीखे ना जाने कितने डी (और अभी तो जोर कोलावरी डी का है), लैपटॉप, डेस्कटॉप, फोटोशॉप सरीखे जीभ को टंकार देने वाले नाम हमारी 'एसेंशियल एक्सेसरीज' की लिस्ट में शामिल हुए।

सच्चाई को तस्वीर, तस्वीर को कैमरा और कैमरे को मेगापिक्सल की ताकत से नापने वाले इस समय ने अपने लिए एक विशाल चित्रपट गढ़ा। यह चित्रपट अखबार की सतह, टीवी-कंप्यूटर-मोबाइल सेट के पर्दे से लेकर चौराहों के साईनबोर्ड और मकानों के बाहरी दीवार तक पसरा हुआ था। इस दौर में, जिसकी भी जेब में मध्यवर्ग में शामिल होने लायक रकम थी, वह इन एक्सेसरीज के सहारे एक छोटे-मोटे कलाकार में तब्दील हो गया। टीवी सेट्स से लेकर कंप्यूटर-मोबाइल के स्क्रीन और शहर के होटलों-चौराहों-बस अड्डों से लेकर फ्लाय ओवरों (और अब तो बस, मेट्रो से लेकर लिफ्ट तक) यानी जहां भी नजर जा सकती हो, हर जगह उसके ठहराव के लिए कोई ना कोई इबारत या तस्वीर किसी ना किसी विज्ञापन के रूप में मौजूद होती है। खास उपकरणों की मौजूदगी से साधारण आदमी को भी कलाकार, बुनियादी ढांचे में बदलाव से सार्वजनिक जगहों को अपने मतलब का चिह्न (जैसे कोई साईनबोर्ड) टांगने वाली खूंट और तेज आर्थिक-वृद्धि के यानी शाईनिंग और इनक्रेडिबल इंडिया



पूँजी के संचय और बढ़ोत्तरी का नियम बड़ा बुनियादी-सा है- जब तक अहर्निश उपभोग नहीं होगा, तब तक अहर्निश उत्पादन-चक्र चलाये रखना असंभव है और अगर अहर्निश उत्पादन चक्र ना चले तो सेवा-सामान बिके कैसे?

के नारे से देश को दर्शनीय यानी एक विशाल चित्रपट में बदलते इस समय के जरिए एक बड़ा बदलाव आया- नागरिक की संज्ञा अपने भावलोक में उपभोक्ता में बदल गई।

कारण था, समय का ट्वेन्टी फोर इन टू सेवेन के फार्मेट में तब्दील होना, काम और आराम के घंटों का एकमेक हो जाना। पूँजी के संचय और बढ़ोत्तरी का नियम बड़ा बुनियादी-सा है- जब तक अहर्निश उपभोग नहीं होगा, तब तक अहर्निश उत्पादन-चक्र चलाये रखना असंभव है और अगर अहर्निश उत्पादन चक्र ना चले तो सेवा-सामान बिके कैसे, दिन दूने-रात चौगुने की रफतार से रकम बढ़े कैसे? तो इसी नियम से निकलता है पूँजीवादी कामनाओं का ब्रह्मज्ञान कि आदमी को क्षुधातुर या कह लें इन्द्रियातुर बनाये रखना बहुत जरूरी है। नश्वर आदमी



को जब तक आप शाश्वत उपभोक्ता में नहीं बदलते तब तक अनवरत उत्पादन-चक्र नहीं चलाया जा सकता। और आदमी को शाश्वत उपभोक्ता में बदलने के लिए जरूरी है, उसकी जागती आंखों और खड़कते कानों के लिए निरंतर सूचना-प्रवाह बनाये रखना। इस सूचना-प्रवाह का ही एक हिस्सा विज्ञापन है जो भारतीय स्पेस (भौगोलिक और वर्चुअल) को एक चित्रपट में बदलकर खास चिह्नों से एक नया आख्यान निर्मित कर रहा है। हम इसी आख्यान के भीतर अपनी आत्मछवि देखने और फिर गढ़ने लगते हैं। सवाल यह है कि आत्मछवि का यह निर्माण होता कैसे है और अच्छा है या बुरा ?

जब चीजें या कह लें वस्तुस्थितियां तस्वीरों और ध्वनियों में बदलने लगे तो उनके बोध में मूलगामी बदलाव आता है, बदलाव यह कि सच्चाई का स्थानापन्न

विश्वसनीयता हो जाती है। तस्वीर विश्वसनीय लगे तो आदमी मान लेता है, वैसी सच्चाई भी कहीं ना कहीं होगी ही। रचा गया ध्वनिगत अनुभव और मन में किसी परिचित ध्वनिगत अनुभव को जगाये तो सुनने वाला अचके में मान बैठता है कि ऐसी सच्चाई कहीं ना कहीं मौजूद होगी ही। विज्ञापन अपने दृश्यगत-ध्वनिगत रचाव में सारा खेल इसी बिन्दु पर करता है। वह अर्थ जगा रहे अपने चिन्हों के प्रवाह में अचानक भोला-सा हेरफेर करता है, पहले से जानी हुई सच्चाई का जैसे ही मन में उद्रेक होता है, विश्वसनीयता के लिए एक संभावित जगह बनती है और जगह बनते ही एक नई मान्यता चुपके से मन के किसी कोने में जा बैठती है। यह मान्यता अनिवार्य रूप से किसी सेवा या सामान की खरीदारी से जुड़ी होती है।

बात रहस्यात्मक ना लगे इसके लिए यहां बस एक विज्ञापन की चर्चा की जाएगी। यह मैक्डोनाल्ड के मैक्रिकन बर्गर का है। याद करें मैक्डोनाल्ड के विज्ञापनों की मशहूर और सिग्नेचर-लाईन-‘आय एम लविंग ईट’। विज्ञापन में यह पंक्ति पूरी कथा सुना-दिखा लेने के बाद आती है, मानो वह कोई अकाट्य सत्योपदेश हो। इस सत्योपदेश से पहले जो कथा सुनायी जाती है उसमें ब्यौरे को इस तरह से भरा जाता है कि वह अपने दर्शक-श्रोता के मन में मौजूद किसी मान्यता (या कह लें सच्चाई के आत्मगत बोध) को जगाये और बोध के जगने के क्षण पर दिए जा रहे मूल संदेश (मैक्डोनाल्ड का बर्गर) को सुना दिया जाता है, ऐसे क्षण में वह विश्वसनीय लगने लगता है।

विज्ञापन में एक अट्टाहरह-बीस साल की लड़की एक कार में ड्राइविंग सीट पर बैठी है। उसकी बगल वाली सीट पर पिता बैठा है। उसके कार चलाने का तरीका ऐसा है कि देखने वाले को जान पड़ता है, उसने ड्राइविंग या तो सीखी नहीं या फिर एडवेंचर की शौकीन है। दोनों मैक्डोनाल्ड के रेस्तरां में जाते हैं। पिता बर्गर खाता है और वॉयसओवर में कहा जाता है- मैक्डोनाल्ड बर्गर खाया तो फंसा। इसके तुरंत बाद लड़की कहती है- क्या मैं कार चला सकती हूं और पिता बर्गर के स्वाद में इतना मस्त है कि उसके मुंह से बस हूं..ऊं..ऊं की ध्वनि निकलती है। विज्ञापन में इसके अगले पल लड़की को बर्गर खाते दिखाया जाता है और पिता कहता है- कल तुम्हारे लिए लड़का देखने जाना है और इस बार लड़की बर्गर खाने में इतनी मस्त है कि उसके मुंह से बस हूं..ऊं..ऊं

की ध्वनि निकलती है। इसके अगले दृश्य में पिता लड़के के घर वालों को फोन करके कहता है- ऑय एम लविंग ईट..।

यह विज्ञापन भारतीय मध्यवर्गीय व्यवहारों के बीच अपने सामान यानी बर्गर के लिए राह निकालता है। सभी जानते हैं, बात बच्चों के ब्याह की हो, खासकर बेटी की तो भारतीय मध्यवर्गीय पिता बागडोर अपने हाथ में रखना चाहता है। एक मान्यता यह भी है कि कम उम्र बच्चे बाईक या कार की रफतार का मजा लेना चाहते हैं-थोड़े एडवेंचर्स होते हैं। इन दो मान्यताओं का उद्रेक विज्ञापन एक छोटी-सी कथा के जरिए करता है, कुछ इस तरह की दोनों मान्यताएं स्वयं में विरोधी प्रतीत हों। पहली विरोधाभासी मान्यता है- नौसीखुआ बेटी का कार चलाने को लेकर जिद करना और समझदार पिता का किसी खास मनस्थिति में इस बात के लिए राजी हो जाना।

दूसरी विरोधाभासी मान्यता है पिता का बेटी के ब्याह में उसकी मर्जी ना जानना, अपनी मर्जी से ब्याह तय कर देना और इसके बावजूद एक खास मनस्थिति में बेटी का इसके लिए राजी हो जाना। जहां तक विश्वसनीयता की बात है, यह दो विरोधाभासी स्थितियां समाज में पहले से मौजूद हैं और उन्हें कथा के रूप में विज्ञापन में देखने पर दर्शक-श्रोता का मानस एक संदेश के रूप में तुरंत उससे तालमेल बैठा लेता है। एक बार यह स्थिति कायम हुई कि कथा के निर्णायक मौके पर (यानी पिता और बेटी के एक दूसरे के प्रस्तावों पर राजी होने का वक्त) विज्ञापन बस एक वाक्य के जरिए अपना काम कर जाता है।

यह वाक्य कथा में निर्मित तनाव के बीच एक समाधान-सूत्र के रूप में आता है- ‘मैक्रिकन बर्गर खाया तो फंसा..।’ मैक्रिकन बर्गर यानी ऐसा स्वाद जो आपके होश भुला दे। जो समाधान सामाजिक लड़ाइयों का विषय हो सकता है, उस समाधान को मैक्रिकन बर्गर नाम के स्वाद में तबदील होने में 15 सेकेंड से भी कम समय लगते हैं।

समस्या वास्तविक, समाधान काल्पनिक - विज्ञापन का संसार इसलिए फैंटेसी का संसार है, वस्तु में देवता और इस देवता के सहारे चमत्कार गढ़ने का संसार। और यह चमत्कार आपको समस्या और उसके इतिहास से निकलने वाली जिम्मेदारियों से बहुत दूर एक कल्पना लोक में ले जाता है। ■

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं)

तस्वीर

